भारतीय दर्शन में चेतना का स्वरूप

डॉ0 अभिषेक कुमार
असिस्टेन्ट प्रोफेसर
दर्शनशास्त्र विभाग
गनपत सहाय पी0जी0 कॉलेज, सुलतानपुर, उ0प्र0

प्रस्तावना– भारतीय दर्शन के सन्दर्भ में यदि 'चेतना' की बात करें तो यहाँ चेतना का अध्ययन किसी भी दार्शनिक निकाय के तत्वमीमांसा व ज्ञानमीमांसा को समझने की प्रागपेक्षा रखता है। उपनिषद से लेकर बौद्ध, जैन, चार्वाक, न्याय, अद्वैत वेदान्त, वैष्णव वेदान्त आदि दर्शनों में चेतना के कई पक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। ध्यातव्य है कि सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में चेतना का विश्लेषण किसी एक आलेख में सम्भव नहीं है, अस्तु, इस शोध पत्र का उद्देश्य परम्परागत भारतीय दर्शन के प्रमुख सम्प्रदायों में चेतना की व्याख्या और परीक्षा कर उसके स्वरूप का उद्घाटन करना है।

मुख्य शब्दः चेतना, तत्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, भारतीय दर्शन।

भारतीय दर्शन में चेतना के स्वरूप की व्याख्या करने के क्रम में कुछ आधारभूत प्रश्न द्रष्टव्य होते है–

पहला, चेतना द्रव्य है, गुण है या कर्म अथवा इन सबसे भिन्न तत्व?

दूसरा, चेतना सविषयक है या निर्विषयक?

तीसरा, चेतना स्वप्रकाश है या पर प्रकाश?

चौथा, चेतना साकार है या निराकार?

पाँचवाँ, चेतना स्वतः प्रमा है या परतः प्रमा?

इन्हीं प्रश्नों के आलोक में चेतना का विवेचन अपेक्षित होगा।

सर्वप्रथम यदि उपनिषदों की बात करें तो यहाँ चेतना को व्याख्यायित करने का प्रयास 'आत्मा' के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए किया गया है। यहाँ 'चेतना' शब्द को आत्मा, विशुद्ध चैतन्य, ब्रह्म आदि के पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया गया है। ये सभी पद परस्पर आनुभविक जीव से भिन्न हैं, जिसमें मैं की चेतना के साथ–साथ सतत् परिवर्तनशीलता, साकारिता और सविषयकता से युक्त देशकाल की चेतना है। आत्मा; देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि से परे एक विलक्षण तत्व है। चेतना विशुद्ध विषयी शुद्ध द्रष्टा है। यह सभी प्रकार की 'जानने' की क्रियाओं के मूल में है, परन्तु ज्ञेय विषय से भिन्न है। बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जो सब कुछ जानता है, उस विशुद्ध ज्ञाता को ज्ञेय रूप में नहीं जाना जा सकता है।

येनेदं सर्व विजानाति तं केन विजानीयात्?

"विज्ञातारं अरे! केन विजानीयात्?"[1]

इसी प्रकार केनोपनिषद में कहा गया है कि आत्मा न तो ज्ञेय विषय है और न अज्ञेय। वह ज्ञेय या विदित से भिन्न है और अज्ञेय या अविदित से ऊपर है।

अन्यदेव तद् विदितादधो अविदिता दधि।[2]

तात्पर्य यह है कि आत्मा; इन्द्रिय, वाणी, बुद्धि द्वारा ग्राह्य नहीं है, यह चित्तवृत्ति का विषय नहीं बन सकती। यदि इसके बारे में कुछ भी कहा जा सकता है, तो वह नेति–नेति है। चेतना/आत्मा अपरोक्षानुभूति गम्य है।

माण्डूक्य उपनिषद् में आत्मा को तुरीय या शुद्ध चैतन्य बताया गया है तथा जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति उसके अभिव्यक्ति की व्यावहारिक अवस्थायें हैं। आत्मा जाग्रत अवस्था में जगत के बाह्य पदार्थों का अनुभव करता है। स्वप्न में मानस पदार्थों का, सुषुप्ति में बाह्य एवं आन्तरिक किसी भी प्रकार के पदार्थ का विषय न होने से विक्षेप के अभाव में कोई अनुभव नहीं होता है, अतः यह अज्ञान की अवस्था है। यद्यपि सुषुप्ति में भी आत्मा चैतन्य साक्षिरूप में विद्यमान है, तथापि अविद्या से आवृत होने के कारण प्रकाशित नहीं होता। आत्मा तुरीय या शुद्ध चेतना है। समस्त प्रपंच का अधिष्ठान होते हुए भी यह प्रपंचोपशम्, शान्त, शिव, अद्वैत तत्व है।

ध्यातव्य है कि उपनिषदों में आत्मा व ब्रह्म का प्रयोग एक ही अर्थ में हुआ है। आत्मा व ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन ही उपनिषदीय शिक्षा का सारतत्व, है जिसकी अभिव्यक्ति 'तत्वमसि'[3], 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः'[4], 'अहं ब्रह्मास्मि'[5] जैसे महावाक्यों में हुई है।

डॉ0 दासगुप्ता के अनुसार,

"The sum and substance of the Upanisad teaching is involved in the equation Atman=Brahman"[6]

जीवात्मा में जो शुद्ध चैतन्य प्रकाशित हो रहा है, वही ब्रह्म रूप से इस समस्त विराट बाह्य जगत में भी व्याप्त है। जो व्यष्टि का आत्मा है, वही समष्टि का आत्मा है। जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है।

तैत्तिरीय उपनिषद में भी कहा गया है–

"स यश्चायं पुरूषे यश्चासावादित्ये"[7]

अर्थात् पुरूष और आदित्य में रहने वाला ब्रह्म एक ही है। इसी अभेदता को छान्दोग्य उपनिषद के

छठे अध्याय में श्वेतकेतु–उद्दालक प्रसंग में देखा जा सकता है। उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहते हैं कि विषयी और विषय, चेतनद्रष्टा और अचेतन जगत दोनों एक ही तत्व के आभास हैं। शुद्ध अखण्ड चैतन्य ही जीव और जगत के रूप में प्रतीत होता है। आत्मा और ब्रह्म दो नहीं हैं।

इस तरह उपनिषदों में चेतना, आत्मा, ब्रह्म, विशुद्ध चैतन्य सब एक ही हैं। चेतना ही समस्त ज्ञान और अनुभव का अधिष्ठान है। विशुद्ध विषयी है। यह आत्मप्रकाश्य, आत्म ज्योति है। इसी प्रकाश के चारों तरफ हमारी समस्त चेतन अवस्थाएँ चक्कर काटती हैं। इसका विलोप होने से उनका भी विलोप हो जायेगा।

व्यवस्थित रूप से जड़वाद का पोषण करने वाले चार्वाकों का मानना है कि चेतना, शरीर का गुण है। चेतना, चार जड़तत्वों पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि के आनुपातिक संयोग का परिणाम है। चार्वाक दर्शन मानता है कि जिस प्रकार पान, कत्था, चूना, सुपारी, आदि लालिमा विहीन हैं, परन्तु इनका संयोग लाल रंग उत्पन्न करता है, उसी प्रकार चार भूतों का विशेष संयोग चैतन्य की उत्पत्ति करता है।

जड़भूतविकारेषु चैतन्यं यत्तु दृश्यते।

ताम्बूलपूग चूर्णानां योगाद्राग इवोत्थितम्।।[8]

चार्वाक चैतन्य को शरीर का गुण मानते हुए आत्मा जैसी किसी आध्यात्मिक सत्ता में विश्वास नहीं करते हैं, बल्कि वे आत्मा को भी शरीर से सम्पृक्त करते हैं और चैतन्य युक्त देह को ही आत्मा कहते हैं।

चार्वाकों के मत से असहमति प्रकट करते हुए आचार्य शंकर कहते हैं कि चेतना, भूतों का धर्म नहीं है, अपितु भूतादि, चैतन्य के विषय हैं। आत्मा, देह से भिन्न है। आत्मधर्म, देह धर्म से विलक्षण हैं, क्योंकि रूप आदि जो देह के धर्म हैं, वे देह पर्यन्त रहते हैं, परन्तु प्राण, चेष्टा आदि तो मरणावस्था में शरीर के होने पर भी नहीं होते।[9]

वस्तुतः चेतना को शरीर का गुण मानना नितान्त असंगत है, क्योंकि मूर्च्छा, कोमा, प्रगाढ़ निद्रा आदि ऐसी अवस्थाएँ हैं, जहाँ जीवित शरीर में चैतन्य की अभिव्यक्ति नहीं होती। यह सत्य है कि शरीर के द्वारा चेतना की अभिव्यक्ति होती है, परन्तु शरीर चेतना का कारण नहीं हो सकता। अन्त में, चन्द्रधर शर्मा का यह कथन उद्धरण योग्य है कि ''हमारी आँखें प्रकाश के बिना नहीं देख पातीं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रकाश दृष्टि का कारण है।''[10]

बौद्ध दर्शन में चेतना कोई नित्य, शाश्वत सत्ता नहीं है, और न ही आत्मा का गुण या क्रिया है, अपितु यह एक निरन्तर प्रवाह है और पंचस्कन्धों का अवयव मात्र है। इसके अनुसार आत्मा, पंचस्कन्धों रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान का संघात मात्र है, परन्तु आत्मा इन स्कन्धों में से कोई एक नहीं

है और न ही इनसे परे है, अपितु इन स्कन्धों का पुंज मात्र है। मिलिन्द पन्हो नामक ग्रन्थ में नागसेन और मिलिन्द संवाद द्वारा इसी बात को स्पष्ट करते हुए नागसेन कहते हैं कि हे राजन् जिस प्रकार रथ, धुरी, चक्र, घोड़ा, लगाम आदि का समूह मात्र है। उसी प्रकार आत्मा भी रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान का समूह मात्र है।[11] इसे संघातवाद कहा जाता है।

इस प्रकार चेतना की चारों स्कन्धों के साथ समष्टि ही आत्मा नाम से व्यवहृत की जाती है। चेतना को द्वादश निदान की एक कड़ी के रूप में भी माना गया है, जो संस्कार से उद्भूत होती है। संस्कार के कारण ही इस जन्म में प्राणी गर्भ में आता है तथा विज्ञान या चैतन्य पाता है। इसके फलस्वरूप शारीरिक और मानसिक अवस्थायें (नामरूप) उसे मिलती हैं।[12]

बुद्ध के अनुसार चेतना की उत्पत्ति चार कारणों पर निर्भर करती है– आलम्बन, समनन्तर, सहकारी, अधिपति। घट आदि बाह्य विषय ज्ञान का आलम्बन कारण है, क्योंकि ज्ञान का आकार उसी से उत्पन्न होता है। ज्ञान के लिए पूर्ववर्ती मानसिक अवस्था का होना आवश्यक है, जिससे ज्ञान में चेतना आती है, यह समनन्तर प्रत्यय है। ज्ञान की उत्पत्ति के लिए प्रकाशादि सहकारी हैं तथा इन्द्रियाँ अधिपति हैं।

यथार्थवादी न्याय–वैशेषिक के मत में चेतना, आत्मा का एक गुण है। उनके मत में चेतनता, शरीर, इन्द्रियों तथा मन का गुण नहीं हो सकती।[13] परन्तु चेतना, आत्मा का अनिवार्य गुण नहीं है, अपितु यह नित्य आत्मा का अनित्यगुण है अर्थात् यह सदैव आत्मा के साथ नहीं पाया जाता। कुछ स्थितियों में आत्मा चेतनाशून्य है, यथा–मूर्च्छा, कोमा, प्रगाढ़ निद्रा आदि अवस्थायें चेतना रहित मानी गई हैं।

उल्लेखनीय है कि चार्वाकों की भांति चैतन्य की गुण रूप में व्याख्या करते हुए भी वे (नैयायिक) उनसे अत्यन्त भिन्न मतावलम्बी हैं। चार्वाकों द्वारा प्रस्तुत चेतना जड़द्रव्यों द्वारा उद्भूत है, परन्तु न्याय–वैशेषिक की चेतना आध्यात्मिक द्रव्य के अधीन है। चेतनता का धारण आत्मा के द्वारा होता है।[14]

नैयायिकों के अनुसार चेतना का उत्पन्न होना सशर्त है और वह यह है कि जब आत्मा, मन व इन्द्रियों के द्वारा बाह्य विषय के सम्पर्क में आती है तब चेतना का उदय होता है, अर्थात्

आत्मा→मन→इन्द्रिय→बाह्य विषय = चेतना

इस तरह नैयायिक चेतना की विषयापेक्षा का प्रतिपादन करते हैं। नैयायिक कहते है कि चेतना अर्थ प्रकाशक है। अर्थ प्रकाशो बुद्धिः।[15] गौतम बुद्धि, ज्ञान और उपलब्धि को परस्पर पर्याय मानते हैं।[16] बुद्धि चेतन है।[17] इस प्रकार वे चेतना को ऐसी सत्ता मानते हैं जो विषयों को अभिव्यक्त करती है, उसे ज्ञेय बनाती है।

मीमांसा दर्शन भी न्याय–वैशेषिक के समान चेतना की यथार्थवादी व्याख्या करता है और चेतना व आत्मा में किसी अपृथक् सम्बन्ध को अस्वीकार करता है। प्रभाकर, न्याय के समान ही आत्मा को अचेतन द्रव्य मानते हुए चेतना को उसका आगन्तुक धर्म मानते हैं, जो अवस्था विशेष में उत्पन्न होता है। इस प्रकार सुषुप्ति, बेहोशी, मोक्ष आदि अवस्थाओं में आत्मा, चैतन्य रहित है। प्रभाकर चेतना को स्वप्रकाश और अर्थप्रकाशक दोनों मानते हैं। स्वप्रकाश स्वरूप होने के कारण ज्ञान या चेतना विषय को प्रकाशित करते ही स्वयं भी प्रकाशित होता है और साथ ही आत्मा को भी ज्ञाता के रूप में प्रकाशित करता है। इस प्रकार प्रत्येक ज्ञान में ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञान का प्रकाशन होता है। यह मत 'त्रिपुटी प्रत्यक्षवाद' कहलाता है, क्योंकि ज्ञान में, ज्ञेय–ज्ञान–ज्ञाता की त्रिपुटी का प्रत्यक्ष होता है। प्रभाकर के अनुसार चेतना या ज्ञान स्वप्रकाश तो है, परन्तु नित्य नहीं है। आत्मा का आकस्मिक गुण होने से यह उत्पत्ति–विनाश युक्त है, अतः अनित्य है। विषय सम्पर्क से आत्मा में चेतना का उदय होता है। इस तरह प्रभाकर चेतना को विषयापेक्षी मानते हैं।

कुमारिल आत्मा और चेतना में कर्ता और क्रिया का सम्बन्ध मानते हैं। चेतना, आत्मा की क्रिया या परिणाम है, परन्तु यह नित्य क्रिया नहीं है। इसीलिए मोक्षादि अवस्था में आत्मा, चेतना या ज्ञान से रहित हो जाता है। कुमारिल, न्याय की ही भांति चेतना या ज्ञान को स्वप्रकाश नहीं मानते, अपितु अर्थ प्रकाशक कहते हैं। ज्ञान न तो स्वप्रकाश है और न ज्ञाता को प्रकाशित करता है, बल्कि मात्र विषय प्रकाशक है। कुमारिल ज्ञान को साक्षात् अनुभूति का विषय नहीं मानते, अपितु इसे अनुमेय मानते हैं, जिसके लिए वे 'ज्ञाततावाद' का सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं। इसके अनुसार किसी पदार्थ का ज्ञान होने पर उस पदार्थ में 'ज्ञातता' नामक धर्म का उदय होता है अर्थात् वह पदार्थ ज्ञाता द्वारा ज्ञात हो चुका है, ऐसी प्रतीति होती है। इस ज्ञातता के कारण ही ज्ञान का अनुमान किया जाता है।

जैन दर्शन चैतन्य को जीव का सामान्य धर्म मानता है। जैन मतानुसार यद्यपि जीव में चैतन्य सदा वर्तमान रहता है, तथापि विभिन्न जीवों में मात्रात्मक दृष्टि से चैतन्य का भेद पाया जाता है। कैवल्य प्राप्त जीव पूर्ण चेतन हैं और अचेतन प्रतीत होने वाले एकेन्द्रिय जीव जो जड़तत्व में रहते हैं, उनमें चेतना सुषुप्तावस्था में विद्यमान है। इनमें चेतना कर्म प्रभाव के कारण क्षीण हो जाती है। इन दोनों के बीच जो जीव हैं, उनमें चैतन्य भिन्न–भिन्न मात्रा में निहित होता है। जैन के अनुसार चेतना विस्तारवान है। यह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होता है, परन्तु चैतन्य जड़द्रव्य की तरह स्थान नहीं घेरती, वरन् प्रकाश की तरह व्याप्त होती है जो शरीर के आकार के अनुसार स्थान घेरती है।

उल्लेखनीय है कि नैयायिकों के विपरीत जैन, चेतना को विषयापेक्षी नहीं मानते हैं। उनके अनुसार जिस प्रकार प्रकाश वस्तुओं को प्रकाशित करता है, किन्तु प्रकाश के लिए वस्तुओं का रहना आवश्यक

नहीं है–यदि वस्तुएं न भी रहें तो भी प्रकाश अपनी ज्योति फेंकता रहेगा, उसी प्रकार वस्तुओं की चेतना जीव को रहती है, पर चेतना के लिए वस्तु सम्पर्क अपेक्षित नहीं है। यदि वस्तु न रहे और सम्पर्क न रहे तब भी चेतना रहेगी।[18]

वैष्णव वेदान्ती आचार्य रामानुज चेतना को आत्मा का स्वरूप और गुण दोनों मानते हैं।[19] उनके मतानुसार आत्मा ज्ञानस्वरूप और ज्ञानाश्रय दोनों है, ज्ञानमात्र नहीं है। इस प्रकार वे आचार्य शंकर के आत्मा के शुद्ध ज्ञान मात्र रूप को नहीं मानते। रामानुज, प्रभाकर की भांति यह मानते हैं कि चेतना स्वप्रकाशक और अर्थप्रकाशक होती है, परन्तु उसके विपरीत वह इसे (चेतना) आत्मा का आगन्तुक धर्म न मानते हुए उसे नित्य आत्मा का नित्य धर्म मानते हैं। आत्मा पर उसके धर्म के रूप में आश्रित होने के कारण ज्ञान को 'धर्मभूत ज्ञान' कहा जाता है। ज्ञान सदैव सभेद और सविषयक है – न च निर्विषया काचित् संवित् अस्ति। इस तरह रामानुज चेतना या ज्ञान को विषयापेक्षी मानते हैं। उनके मत में चेतना, आत्मा का गुण है जो कि विषयापेक्षी और हमेशा परिवर्तनशील है।[20]

इस प्रकार रामानुजाचार्य चेतना को आत्मा का स्वरूप एवं गुण दोनों मानते है जो कि विवाद ग्रस्त है। यदि आत्मा चित्रूप है, तो आत्मा एवं चेतना में भेद असम्भव है और यदि आत्मा चिद्धर्मक है तो चेतना कुछ परिस्थितियों में जड़ हो सकती है। अद्वैती भी उपरोक्त मत को विरोधग्रस्त बताते हैं, क्योंकि उनके अनुसार द्रव्य और गुण में या तो पूरी तरह तादात्म्य होगा या द्रव्य, गुण से भिन्न होगा।[21]

सांख्य दर्शन चैतन्य को पुरुष या आत्मा का स्वरूप मानता है। वह जैनियों की भांति आत्मा को चेतन द्रव्य नहीं मानता है, यथार्थवादियों की भांति चेतना को गुण भी नहीं मानता और न ही बौद्धों की तरह चैतन्य को प्रवाह मात्र या इसके 'कारणात्मक उत्पत्ति' की बात करता है, अपितु चैतन्य पुरुष का स्वभाव है, पुरुष चैतन्य रूप है। सांख्य, चैतन्य को स्वप्रकाश मानता है, जिसके प्रकाश से ही जड़बुद्धि में ज्ञान का उदय होता है। न्यायदर्शन के विपरीत सांख्य मुक्ति की अवस्था में चेतना का अभाव नहीं मानता, अपितु उसके अनुसार मोक्ष में पुरुष अपने नित्य शुद्ध चैतन्य रूप में प्रकाशित होता है।

शांकर अद्वैत वेदान्त में चेतना को आत्मा का स्वरूप माना गया है अर्थात् चेतना ही आत्मा है और आत्मा ही चेतना है। चेतना ही एक मात्र तत्व है, वही ब्रह्म है। यही चेतना उपाधिभेद से जीव, साक्षी, ईश्वर आदि रूपों में आभासित होता है। विशुद्ध चैतन्य जब अविद्या के कारण शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण से परिच्छिन्न होता है, तो वही जीव कहलाता है। जीव अल्पज्ञ, सीमित तथा सुख दुःख का अनुभव कर्ता है। शारीरक भाष्य में आचार्य शंकर कहते है–**अस्त्यात्मा जीवाख्यः शरीरेन्द्रिय पंजराध्यक्षः कर्मफल सम्बन्धी।**[22] अर्थात् जीव, शरीर और इन्द्रिय रूपी पंजर का स्वामी है तथा कर्मफल से सम्बन्धित है।

जीव का जीवत्व अविद्याकृत है। इस सम्बन्ध में वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि अविद्या अथवा अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य ही जीव है। ब्रह्म ही अविद्या रूप उपाधि भेद से नाना जीवों में प्रतीत होता है। विद्यारण्य स्वामी के अनुसार अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य ही जीव है।[23] सर्वज्ञात्म मुनि कहते हैं कि अविद्या में चैतन्य का प्रतिबिम्ब ईश्वर का स्वरूप है तथा अन्तःकरण में उसी चैतन्य का प्रतिबिम्ब जीव का स्वरूपहै।[24] श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्र ने वेदान्तपरिभाषा में कहा है–**जीवोनामान्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यम्**।[25] अर्थात् जीव अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य है। इसी तरह ब्रह्मसूत्र भाष्य में आचार्य शंकर कहते है कि जीव अविद्या के कारण संसार के दुःख का अनुभव करता है। शरीर में आत्मभाव को प्राप्त कर 'मैं दुखी हूँ' इस तरह के अविद्याकृत दुःख का उपभोग करता है।[26]

इस प्रकार विशुद्ध चैतन्य ही अविद्या की उपाधि के कारण जीव रूप में प्रतीत होता है। जीव अविद्या की आवरण और विक्षेप शक्तियों से बंधा हुआ है। जीव में अज्ञान जन्य कर्तृत्व और भोक्तृत्व है, जिससे स्वयं को कर्ता और सुख– दुःख रूपी कर्मफल का भोक्ता भी मानता है। जीव अहंकार–ममकार से युक्त, अल्पज्ञ और देहेन्द्रिय अन्तःकरण से सीमित है, परन्तु अविद्या निरास होते ही जीव विशुद्ध चैतन्य रूप में प्रकाशित होता है।

इस चेतना की चार अवस्थायें मानी गई हैं– जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयावस्था। इनमें से प्रथम तीन जीव की व्यावहारिक अवस्थाएँ है तथा चौथी पारमार्थिक अवस्था है। जाग्रत वह अवस्था है जिसमें जीव शरीर और इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य जगत का ज्ञान प्राप्त करता है। इस अवस्था में अन्तःकरण इन्द्रियों के द्वारा बाहर निकलकर बाह्य विषयों का स्वरूप धारण कर लेता है, जिसे वृत्ति कहते हैं। इसी वृत्ति के द्वारा ही जीव बाह्य वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करता है। यहाँ हमारा स्थूल शरीर कार्य करता है। स्वप्नावस्था में इन्द्रियाँ क्रियाशील नहीं रहती हैं, परन्तु अन्तःकरण सक्रिय रहता है और जाग्रतावस्था के संस्कार से प्रातिभासिक सत्ताओं की सृष्टि करता है तथा उनका ज्ञान प्राप्त करता है। इसमें जीव का सूक्ष्म शरीर कार्य करता है। वेदान्त परिभाषा में कहा गया है–**इन्द्रियाजन्यविषय गोचरा परोक्षान्तःकरण वृत्त्यवस्था, स्वप्नावस्था।**[27] अर्थात् इन्द्रियों से अजन्य एवं विषयगोचर, अपरोक्ष अन्तःकरण वृत्ति को स्वप्नावस्था कहते हैं। सुषुप्ति अवस्था में अन्तःकरण का अविद्या में लय हो जाता है। इसमें समस्त प्रकार के विषयों का अभाव हो जाता है और जीव अज्ञान की सूक्ष्म वृत्तियों से आनन्द प्राप्त करता है। सुषुप्ति में सूक्ष्म शरीर का भी साथ छूट जाता है और मात्र कारण शरीर रह जाता है।

जीव चैतन्य की इन तीन अवस्थाओं में जीव के तीन नाम हैं– विश्व, तैजस और प्राज्ञ जो स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर तथा पंच कोशों पर आधारित हैं।

जाग्रतावस्था में जीव 'विश्व' कहलाता है जो अन्नमय कोश रूप स्थूल शरीर की उपाधि से युक्त

है। स्वप्नावस्था का अभिमानी जीव 'तैजस' है जो विज्ञानमय, मनोमय और प्राणमय कोश रूप सूक्ष्म शरीर की उपाधि से युक्त है। सुषुप्ति में जीव प्राज्ञ कहलाता है जो आनन्दमय कोश रूप कारण शरीर से युक्त होता है। जाग्रतावस्था में विश्व, तैजस और प्राज्ञ तीनों सक्रिय होते हैं, इसीलिए तैजस द्वारा अनुभव किया हुआ स्वप्न और प्राज्ञ द्वारा अनुभूत सुषुप्ति का स्मरण विश्व को होता है। स्वप्नावस्था में विश्व निष्क्रिय रहता है, अतः तैजस को जाग्रत का स्मरण नहीं रहता है। सुषुप्ति में विश्व एवं तैजस दोनों ही प्राज्ञ में लीन हो जाते है, अतः जाग्रत एवं स्वप्न दोनों की स्मृति नहीं होती।

उपर्युक्त तीनों व्यावहारिक अवस्थाओं के इतर जो चौथी अर्थात् तुरीय अवस्था है, वह पारमार्थिक अवस्था है जिसमें, जीव अपने तात्विक स्वरूप को प्राप्त करता है। इस अवस्था में अज्ञान का क्षय होने से जीव मूल स्वरूप को प्राप्त करता है। तुरीयावस्था सभी प्रकार के शरीर से मुक्त तथा पंच कोशातीत है। इस अवस्था को अनुपहित चैतन्य, शुद्ध चैतन्य, शिव तथा अद्वैत कहते हैं।

तुरीयावस्था में अपने शुद्धात्म रूप में प्रकाशित जीव ब्रह्म से अभिन्न है। इस अभिन्नता का प्रतिपादन ही वेदान्त का प्रमुख विषय है। जीव–ब्रह्मैक्य का प्रतिपादन करते हुए आचार्य कहते हैं कि–

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तम् ग्रन्थ कोटिभिः।

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः।।[28]

अर्थात् जो बात करोड़ों ग्रन्थों के द्वारा कही गई है, उसे मैं श्लोकार्ध में व्यक्त करुँगा कि एक मात्र ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है और जीव परमार्थतः ब्रह्म ही है। औपनिषदिक महावाक्य 'तत्त्वमसि' (वह तू है) के द्वारा भी जीव–ब्रह्म सम्बन्ध की व्याख्या की गई है, जिसमें तत् अर्थात् ब्रह्म और त्वम् अर्थात् जीव में तीन सम्बन्धों– तत् और त्वम् पदों का समानाधिकरण्य, दोनों पदों के वाच्यार्थ में विशेषण–विशेष्यभाव तथा लक्ष्य–लक्षण सम्बन्ध के अन्तर्गत जहदजहल्लक्षणा द्वारा तादात्म्य स्थापन किया गया है। इसी प्रकार अहम् ब्रह्मास्मि (मैं ब्रह्म हूँ), अयमात्मा ब्रह्म (यह आत्मा ब्रह्म है) इत्यादि श्रुतियाँ भी आत्मा व ब्रह्म की एकता को सुनिश्चित करती हैं।

इस प्रकार विशुद्ध चैतन्य ब्रह्म ही एक मात्र परम् सत् है। शांकर वेदान्त के अनुसार विशुद्ध चैतन्य सभी प्रकार के ज्ञान और अनुभव का अधिष्ठान है। चेतना ही स्वयं को तथा अन्य विषयों को प्रकाशित करती है। चैतन्य विशुद्ध विषयी, शुद्ध द्रष्टा है। इसे विषय के रूप में नहीं जाना जा सकता है, क्योंकि विषयी और विषय प्रकाश और अन्धकार की भांति परस्पर विरूद्ध स्वभाव के हैं।

युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोर तमः प्रकाशवत् विरूद्ध स्वभावयोः..... ।[29]

आचार्य शंकर कहते हैं कि यद्यपि ब्रह्म का निर्देश वाणी और मन द्वारा असम्भव है, परन्तु इसका

अर्थ यह नहीं है कि वह अभाव रूप है।

वाङ्.मनसातीतत्वमपि ब्रह्मणो नाभावाभि प्रायेणाभिधीयते।[30]

याज्ञवल्क्य ने भी कहा है कि ज्ञाता के ज्ञान का लोप नहीं हो सकता; द्रष्टा की दृष्टि का लोप नहीं हो सकता।

न हि द्रष्टुर्दृष्टेः विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात्।[31]

विशुद्ध चैतन्य की अपरोक्षानुभूति होती है। ब्रह्म को ब्रह्म बनकर ही जाना जाता है। **ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति। ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।**[32] इस प्रकार विशुद्ध चैतन्य ब्रह्म विषयी है जो केवल अपरोक्षानुभूतिगम्य है, उसे विषय के रूप में जानना असम्भव है।

प्रो0 अनुकूल चन्द्र मुकर्जी के अनुसार आत्मा या विषयी को विषय के स्तर पर विस्थापित करना सदोष है, जिसे वह अतीन्द्रिय विस्थापन का दोष (Fallacy of Transcendental Dislocation) कहते हैं।[33]

इस तरह हम देखते हैं कि आचार्य शंकर के दर्शन में विशुद्ध चेतना ही मात्र तत्व है। वही आत्मा या ब्रह्म है। शंकराचार्य चेतना को द्रव्य, गुण, प्रवाह आदि के रूप में नहीं मानते हैं। उनके मत में चेतना यथार्थ एवं पूर्ण सत् है। इसका निराकरण असंभव है, क्योंकि आत्मचैतन्य ही निराकर्ता का स्वरूप है। आगन्तुक वस्तु का निराकरण हो सकता है, स्वरूप का कभी नहीं हो सकता।

आगन्तुकं हि वस्तु निराक्रियते, न स्वरूपम्।

य एव हि निराकर्ता तदेव तस्य स्वरूपम्।।[34]

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय दर्शन में चेतना ज्ञानमीमांसीय और तात्विक सभी सन्दर्भों में प्रयुक्त हुई है। भारतीय दर्शन में चेतना के स्वरूप की व्याख्या करने के क्रम में जो महत्वपूर्ण बात स्पष्ट होती है वह यह है कि यहाँ चेतना को द्रव्य, गुण, कर्म के रूप में या इन सबसे भिन्न रूप में विवेचित करने का प्रयास किया गया है, दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि 'चेतना' शब्द मनस् का पर्याय कदापि नहीं है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. बृहदारण्यक उपनिषद्, 2/4/14

2. केनोपनिषद, 1/3

3. छान्दोग्य उपनिषद्, 6/8/7

4. बृहदारण्यक उपनिषद, 2/5/19

5. उपर्युक्त, 1/4/10

6. Dasgupta, S.N. (2012): *A History of Indian Philosophy* Vol. 1, Motilal Banarsidass, Delhi, p.45

7. तैत्तिरीय उपनिषद्, 2/8

8. माधवाचार्य (1997): *सर्वदर्शन संग्रह* (उमाशंकर शर्मा ऋषि, हिन्दी अनुवाद), चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ05

9. उपर्युक्त, 3/3/54

10. शर्मा, चन्द्रधर (1995): *भारतीय दर्शनः आलोचन और अनुशीलन*, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ0 27

11. मिलिन्द पन्हो, 2, 1–4

12. माधवाचार्य (1997): *सर्वदर्शन संग्रह* (उमाशंकर शर्मा ऋषि, हिन्दी अनुवाद), चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ0 80

13. कणाद, वैशेषिक सूत्र, 3/1, 19

14. बिजल्वान, चक्रधर (1983) : *भारतीय न्यायशास्त्र*, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, पृ0 452

15. गौतम, न्यायसूत्र, 1/11/18

16. उपर्युक्त, 1/1/15

17. माधवाचार्य (1997): *सर्वदर्शन संग्रह* (उमाशंकर शर्मा ऋषि, हिन्दी अनुवाद), चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ0 395

18. देवराज, नन्द किशोर (2002): *भारतीय दर्शन* (सं0), उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, पृ0 110

19. रामानुज, श्रीभाष्य, 1/1/1

20. Indich, William M. (2000): *Consciousness in Advaita Vedanta*, Motilal Banarasidass, Delhi, p. 31

21. उपर्युक्त, पृ0 31

22. शारीरक भाष्य, 2/3/17

23. विद्यारण्य स्वामी, पंचदशी, 6/18, 22

24. सर्वज्ञात्ममुनि, संक्षेप शारीरक, 1/327

25. धर्मराजाध्वरीन्द्र (2010): *वेदान्तपरिभाषा* (व्याख्या–गजानन्द शास्त्री मुसलगांवकर), चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ0 85

26. शारीरक भाष्य, 2/3/45

27. धर्मराजाध्वरीन्द्र (2010): *वेदान्तपरिभाषा* (व्याख्या–गजानन्द शास्त्री मुसलगांवकर), चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ0 370

28. शंकराचार्य, आदि (2011): *ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्* (स्वामी सत्यानन्द सरस्वती, हिन्दी व्याख्या), चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, पृ0 15

29. शंकराचार्य, आदि (2011): *ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्* (स्वामी सत्यानन्द सरस्वती, हिन्दी व्याख्या), चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, पृ0 2

30. शारीरक भाष्य, 3/2/22

31. बृहदारण्यक उपनिषद, 4/3/23, 31

32. उपर्युक्त, 4/4/6

33. Pandey, S.L. (1987): *Problems of Depth Epistemology*, Ram Nath Kaul Library of Philosophy, University of Allahabad, Allahabad, p. 13

34. शारीरक भाष्य, 2/3/7